।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

महापुरुषों ने संसार को विभिन्न दृष्टान्तों से समझाने का प्रयास किया है। किसी ने इसी को भवाटवी कहा, तो किसी ने संसार सागर कहा। अवस्था-भेद से इसी को भवनदी और भवकूप भी कहा गया और कभी इसकी तुलना गो-पद से की गयी अर्थात् जितना इन्द्रियों का आयतन है, उतना ही संसार है और अन्त में ऐसी भी अवस्था आयी कि **('नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं।')** भवसिन्धु भी सूख गया। क्या संसार में ऐसे समुद्र हैं? योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी संसार को समुद्र और वृक्ष की संज्ञा दी। अध्याय बारह में उन्होंने कहा - जो मेरे अनन्य भक्त हैं, उनका संसार-समुद्र से शीघ्र ही उद्धार करनेवाला होता हूँ। यहाँ प्रस्तुत अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि संसार एक वृक्ष है, उसको काटते हुए ही योगीजन उस परमपद को खोजते हैं। देखें-

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

अर्जुन! **'ऊर्ध्वमूलम्'**- ऊपर को परमात्मा ही जिसका मूल है, **'अधःशाखम्'**- नीचे प्रकृति ही जिसकी शाखायें हैं, ऐसे संसाररूपी पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं। (वृक्ष तो अ-श्वः अर्थात् कल तक भी रहनेवाला नहीं, जब चाहे कट जाय; किन्तु है अविनाशी।) श्रीकृष्ण के अनुसार अविनाशी दो हैं- एक संसाररूपी वृक्ष अविनाशी और दूसरा उससे भी परे परम अविनाशी। वेद इस अविनाशी संसार-विटप के पत्ते कहे गये हैं। जो पुरुष इस संसाररूपी वृक्ष को देखते हुए विदित कर लेता है, वह वेद का ज्ञाता है।

जिसने उस संसार-वृक्ष को जाना है, उसने वेद को जाना है, न कि ग्रन्थ पढ़नेवाला। पुस्तक पढ़ने से तो उधर बढ़ने की प्रेरणा मात्र मिलती है। पत्तों के स्थान पर वेद की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः पुरुष भटकते-भटकते जिस अन्तिम कोपल अर्थात् अन्तिम जन्म को लेता है, वहीं से वेद के वे छन्द (जो कल्याण का सृजन करते हैं) वहीं से प्रेरणा देते हैं, वहीं से उनका उपयोग है। वहीं से भटकाव समाप्त हो जाता है। वह स्वरूप की ओर घूम जाता है। तथा-

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

इस संसार-वृक्ष की तीनों गुणों के द्वारा बढ़ी हुई विषय और भोगरूप कोपलोंवाली शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। नीचे की ओर कीट-पतंगपर्यन्त और ऊपर देवभाव से लेकर ब्रह्मापर्यन्त सर्वत्र फैली हुई हैं तथा केवल मनुष्य-योनि में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली हैं, अन्य सभी योनियाँ भोग भोगने के लिये हैं। मनुष्य-योनि ही कर्मों के अनुसार बन्धन तैयार करती है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।

परन्तु इस संसार-वृक्ष का रूप जैसा कहा गया है, वैसा यहाँ नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है और न अच्छी प्रकार से इसकी स्थिति ही है (क्योंकि यह परिवर्तनशील है)। इस सुदृढ़ मूलवाले संसाररूपी वृक्ष को दृढ़ **'असंगशस्त्रेण'**- असंग अर्थात् वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा काटकर, (संसाररूपी वृक्ष को काटना है। ऐसा नहीं कि पीपल की जड़ में परमात्मा रहते हैं या पीपल का पत्ता वेद है और आरती करने लगे पेड़ की।)

इस संसार-वृक्ष का मूल तो स्वयं परमात्मा ही बीजरूप से प्रसारित है, तो क्या वह भी कट जायेगा? दृढ़ वैराग्य द्वारा इस प्रकृति का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, यही काटना है। काटकर करें क्या?-

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

दृढ़ वैराग्य द्वारा संसार-विटप को काटने के उपरान्त उस परमपद परमेश्वर को अच्छी प्रकार खोजना चाहिए, जिसमें गये हुए पुरुष फिर पीछे संसार में नहीं आते अर्थात् पूर्ण निवृत्ति प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु उसकी खोज किस प्रकार सम्भव है? योगेश्वर कहते हैं, इसके लिए समर्पण आवश्यक है। जिस परमेश्वर से पुरातन संसार-वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष परमात्मा की मैं शरण हूँ (उनकी शरण गये बिना वृक्ष मिटेगा नहीं)। अब शरण में गया हुआ वैराग्य में स्थित पुरुष कैसे समझे कि वृक्ष कट गया? उसकी पहचान क्या है? इस पर कहते हैं-

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्।।५।।

उपर्युक्त प्रकार के समर्पण से जिनका मोह और मान नष्ट हो गया है, आसक्तिरूपी संगदोष जिन्होंने जीत लिया है, **'अध्यात्मनित्या'**- परमात्मा के स्वरूप में जिनकी निरन्तर स्थिति है, जिनकी कामनाएँ विशेष रूप से निवृत्त हो गई हैं और सुख-दुःख के द्वन्द्वों से विमुक्त हुए ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं। जब तक यह अवस्था नहीं आती, तब तक संसार-वृक्ष नहीं कटता। यहाँ तक वैराग्य की आवश्यकता रहती है। उस परमपद का क्या स्वरूप है, जिसे पाते हैं?-

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

उस परमपद को न सूर्य, न चंद्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर पाते हैं। जिस परमपद को प्राप्त कर मनुष्य पीछे संसार में नहीं आते हैं, वही मेरा परमधाम है अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता। इस पद की प्राप्ति में सबका समान अधिकार है। इस पर कहते हैं-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

'जीवलोके' अर्थात् इस देह में (शरीर ही लोक है) यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणमयी माया में स्थित हुई मनसहित पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है। भला कैसे?-

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

जिस प्रकार वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, ठीक उसी प्रकार देह का स्वामी जीवात्मा जिस पहले शरीर को त्यागता है, उससे मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के कार्य-कलापों को ग्रहण करके (आकर्षित करके, साथ लेकर) फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसमें जाता है। (जब अगला शरीर तत्काल निश्चित है तो आटे का पिण्ड बनाकर किसे पहुँचाते हो? लेता कौन है? इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि यह अज्ञान तुझे कहाँ से उत्पन्न हो गया कि पिण्डोदक क्रिया लुप्त हो जायेगी।) वहाँ जाकर करता क्या है? मनसहित छः इन्द्रियाँ कौन हैं?-

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

उस शरीर में स्थित होकर यह जीवात्मा कान, आँख, त्वचा, जिह्वा, नासिका और मन का आश्रय लेकर अर्थात् इन सबके सहारे ही विषयों का सेवन करता है। किन्तु ऐसा दिखाई नहीं पड़ता, सब उसे देख नहीं पाते, इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

शरीर छोड़कर जाते हुए, शरीर में स्थित हुए, विषयों को भोगते हुए अथवा तीनों गुणों से युक्त हुए भी जीवात्मा को विशेष मूढ़ अज्ञानी नहीं

जानते। केवल ज्ञानरूपी नेत्रवाले ही उसे जानते हैं, देखते हैं, ठीक ऐसा ही है। अब वह दृष्टि कैसे मिले? आगे देखें-

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

योगीजन अपने हृदय में चित्त को सब ओर से समेट इस आत्मा को यत्न करते हुए ही प्रत्यक्ष देखते हैं; किन्तु अकृतार्थ आत्मावाले अर्थात् मलिन अन्तःकरणवाले अज्ञानीजन यत्न करते हुए भी इस आत्मा को नहीं जानते (क्योंकि उनका अन्तःकरण बाह्य प्रवृत्तियों में अभी बिखरा है)। चित्त को सब ओर से समेटकर अन्तरात्मा में यत्न करनेवाले भाविकजन ही उसे पाने के योग्य होते हैं। अतः अन्तःकरण से सतत सुमिरन आवश्यक है। अब उन महापुरुषों के स्वरूप में जो विभूतियाँ पायी जाती हैं (जो पीछे बता भी आये हैं), उन पर प्रकाश डालते हैं-

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

जो तेज सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में है, इसे तू मेरा ही जान। अब उस महापुरुष द्वारा कार्य बताते हैं-

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और चन्द्रमा में रसस्वरूप होकर सम्पूर्ण वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

मैं ही प्राणियों के शरीर में अग्निरूप से स्थित होकर प्राण और अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ।

अध्याय चार में स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इन्द्रियाग्नि, संयमाग्नि, योगाग्नि, प्राण-अपानाग्नि, ब्रह्माग्नि इत्यादि तेरह-चौदह अग्नियों का उल्लेख किया, जिनमें सबका परिणाम ज्ञान है। ज्ञान ही अग्नि है। श्रीकृष्ण कहते हैं, ऐसा अग्नि स्वरूप होकर प्राण और अपान से युक्त चार विधियों से (जप सदैव

श्वास-प्रश्वास से होता है, उसकी चार विधियाँ बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा हैं- इन चार विधियों से) तैयार होनेवाले अन्नों को मैं ही पचाता हूँ।

श्रीकृष्ण के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र अन्न है, जिससे आत्मा पूर्ण तृप्त हो जाता है फिर कभी अतृप्त नहीं होता। शरीर के पोषक प्रचलित अन्नों को योगेश्वर ने आहार की संज्ञा दी है (युक्ताहार...)। वास्तविक अन्न परमात्मा है। बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा की चार विधियों से निकलकर ही वह अन्न परिपक्व होता है। इसी को अनेक महापुरुषों ने नाम, रूप, लीला और धाम कहा है। पहले नाम का जप होता है, क्रमशः हृदय-देश में इष्ट का स्वरूप प्रकट होने लगता है, तत्पश्चात् उसकी लीला का बोध होने लगता है कि वह ईश्वर किस प्रकार कण-कण में व्याप्त है? किस प्रकार वह सर्वत्र कार्य करता है? इस प्रकार हृदय-देश में क्रिया-कलापों का दर्शन ही लीला है (बाहर की रामलीला-रासलीला नहीं) और उस ईश्वरीय लीला की प्रत्यक्ष अनुभूति करते हुए जब मूललीलाधारी का स्पर्श मिलता है, तब धाम की स्थिति आती है। उसे जानकर साधक उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है। उसमें प्रतिष्ठित होना और परावाणी की परिपक्वावस्था में परब्रह्म का स्पर्श कर उसमें स्थित होना दोनों साथ-साथ होता है।

इस प्रकार प्राण और अपान अर्थात् श्वास और प्रश्वास से युक्त होकर चार विधियों से अर्थात् बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और क्रमशः उत्थान होते-होते परा की पूर्तिकाल में वह 'अन्न' ब्रह्म परिपक्व हो जाता है, मिल भी जाता है, पच भी जाता है और पात्र भी परिपक्व ही है।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ। मुझसे ही स्वरूप की स्मृति (सूरति, जो तत्त्व परमात्मा विस्मृत है, उसका स्मरण हो आना) होती है, (प्राप्तिकाल का चित्रण है) स्मृति के साथ ही ज्ञान (साक्षात्कार) और 'अपोहनं' अर्थात् बाधाओं का शमन मुझ इष्ट से ही होता है। सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। वेदान्त का कर्त्ता अर्थात् 'वेदस्य

अन्तः सः वेदान्त' (अलग था तभी तो जानकारी हुई, जब जानते ही उसी स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गया तो कौन किसको जाने) वेद की अन्तिम स्थिति का कर्त्ता मैं ही हूँ और 'वेदवित' भी मैं ही हूँ अर्थात् वेद का ज्ञाता। अध्याय के आरम्भ में उन्होंने कहा था कि संसार वृक्ष है। ऊपर परमात्मा मूल और नीचे प्रकृतिपर्यन्त शाखाएँ हैं। जो इसे मूल से प्रकृति का विभाजन करके जानता है, मूल से जानता है वह वेदवित है। यहाँ कहते हैं कि मैं वेदवित हूँ। उसे जो जानता है, श्रीकृष्ण ने अपने को उसकी तुलना में खड़ा किया कि वह वेदवित है, मैं वेदवित हूँ। श्रीकृष्ण भी एक तत्त्वज्ञ महापुरुष, योगियों के भी परमयोगी थे। यहाँ यह प्रश्न पूरा हुआ। अब बताते हैं कि संसार में पुरुष का स्वरूप दो प्रकार का है–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

अर्जुन! इस संसार में **'क्षर'**– क्षय होनेवाले, परिवर्तनशील और **'अक्षर'** – अक्षय, अपरिवर्तनशील ऐसे दो प्रकार के पुरुष हैं। उनमें सम्पूर्ण भूत प्राणियों के शरीर तो नाशवान् हैं, क्षर पुरुष हैं, आज हैं तो कल नहीं रह जायेंगे और दूसरा कूटस्थ पुरुष अविनाशी कहा जाता है। साधन के द्वारा मनसहित इन्द्रियों का निरोध अर्थात् जिसकी इन्द्रिय समूह कूटस्थ है, वही अक्षर कहलाता है। अब आप स्त्री कहलाते हों अथवा पुरुष, यदि शरीर और शरीर-जन्म के कारण संस्कारों का क्रम लगा है तो आप क्षर पुरुष है और जब मनसहित इन्द्रियाँ कूटस्थ हो जाती हैं तब वही अक्षर पुरुष कहलाता है। किन्तु यह भी पुरुष की अवस्था विशेष ही है। इन दोनों से भी परे एक अन्य पुरुष भी है–

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

उन दोनों से अति उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है और अविनाशी, परमात्मा, ईश्वर ऐसे कहा गया है। परमात्मा, अव्यक्त, अविनाशी, पुरुषोत्तम इत्यादि उसके परिचायक शब्द हैं, वस्तुतः वह अन्य ही है अर्थात् अनिर्वचनीय है। यह क्षर-अक्षर से परे महापुरुष की अन्तिम अवस्था है, जिसको परमात्मा इत्यादि

शब्दों से इंगित किया गया है; किन्तु वह अन्य है अर्थात् अनिर्वचनीय है। उसी स्थिति में योगेश्वर श्रीकृष्ण अपना भी परिचय देते हैं। यथा-

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

मैं उपर्युक्त नाशवान्, परिवर्तनशील क्षेत्र से सर्वथा अतीत हूँ और अक्षर-अविनाशी कूटस्थ पुरुष से भी उत्तम हूँ इसलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

हे भारत! जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इस प्रकार जो ज्ञानी पुरुष मुझ पुरुषोत्तम को साक्षात् जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से मुझ परमात्मा को ही भजता है। वह मुझसे विलग नहीं है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य पूर्णज्ञाता और कृतार्थ हो जाता है। अतः योगेश्वर श्रीकृष्ण की यह वाणी स्वयं में पूर्ण शास्त्र है।

श्रीकृष्ण का यह रहस्य अत्यन्त गुप्त था। उन्होंने केवल अनुरागियों से बताया। यह अधिकारी के लिये था, सबके लिये नहीं। किन्तु जब यही रहस्य (शास्त्र) लिखने में आ जाता है, सबके सामने पुस्तक रहती है इसलिये लगता है कि श्रीकृष्ण ने सबको कहा; किन्तु वस्तुतः यह अधिकारी के लिये ही है। श्रीकृष्ण का यह स्वरूप सबके लिए था भी नहीं। कोई उन्हें राजा, कोई दूत तो कोई यादव ही मानता था; किन्तु अधिकारी अर्जुन से उन्होंने कोई दुराव नहीं रखा। उसने पाया कि वह परमसत्य पुरुषोत्तम हैं। दुराव रखते तो उसका कल्याण ही न होता।

यही विशेषता प्राप्तिवाले प्रत्येक महापुरुष में पायी गई। रामकृष्ण परमहंसदेव एक बार बहुत प्रसन्न थे। भक्तों ने पूछा - ''आज तो आप बहुत प्रसन्न हैं।'' बोले-''आज मैं 'वह' परमहंस हो गया।'' उनके समकालीन कोई अच्छे महापुरुष परमंहस थे, उनकी ओर संकेत किया। कुछ देर बाद वे

मन-क्रम-वचन से विरक्ति की आशा से अपने पीछे लगे साधकों से बोले - ''देखो, अब तुम लोग सन्देह न करना। मैं वही राम हूँ जो त्रेता में हुए थे, वही कृष्ण हूँ जो द्वापर में हुए थे। मैं उन्हीं की पवित्र आत्मा हूँ, वही स्वरूप हूँ। यदि पाना है तो मुझे देखो।''

ठीक इसी प्रकार 'पूज्य गुरु महाराज' भी सबके सामने कहा करते थे - ''हो, हम भगवान के दूत हैं। जे सचहूँ का सन्त है, वह भगवान का दूत है। हमारे द्वारा ही उनका सन्देशा मिलता है।'' ईसा ने कहा - ''मैं भगवान का पुत्र हूँ, मेरे पास आओ- इसलिए कि ईश्वर का पुत्र कहलाओगे।'' अतः सभी पुत्र हो सकते हैं। हाँ, यह बात अलग है कि पास आने का तात्पर्य उन तक की साधना साधन-क्रम में चलकर पूरी करना है। मुहम्मद साहब ने कहा - ''मैं अल्लाह का रसूल हूँ, सन्देशवाहक हूँ।'' 'पूज्य महाराज जी' सबसे तो इतना ही कहते थे - न किसी विचार का खण्डन, न मण्डन। किन्तु जो विरक्ति में पीछे लगे थे, उनसे कहते थे - ''केवल मेरे स्वरूप को देखो। यदि तुम्हें उस परमतत्त्व की चाह है तो मुझे देखो, सन्देह मत करो।'' बहुतों ने सन्देह किया तो उनको अनुभव में दिखाकर, डाँट-फटकारकर, उन बाह्य विचारों से हटाकर, जिनमें योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार (अध्याय २/४०-४३) अनन्त पूजा-पद्धतियाँ हैं, अपने स्वरूप में लगाया। वे अद्यावधि महापुरुष के रूप में अवस्थित हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण की अपनी स्थिति गोपनीय तो थी; किन्तु अपने अनन्य भक्त पूर्ण अधिकारी अनुरागी अर्जुन के प्रति उन्होंने उसे प्रकाशित किया। हर भक्त के लिए सम्भव है, महापुरुष लाखों को उस रास्ते पर चला देते हैं।

निष्कर्ष–

इस अध्याय के आरम्भ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि संसार एक वृक्ष है। पीपल-जैसा वृक्ष है। पीपल एक उदाहरण मात्र है। ऊपर इसका मूल परमात्मा और नीचे प्रकृतिपर्यन्त इसकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। जो इस वृक्ष को मूलसहित विदित कर लेता है, वह वेदों का ज्ञाता है। इस संसार-वृक्ष की शाखाएँ ऊपर और नीचे सर्वत्र व्याप्त हैं और **'मूलानि'**- उसकी जड़ों का जाल भी ऊपर और नीचे सर्वत्र व्याप्त है, क्योंकि वह मूल ईश्वर है और वही बीजरूप से प्रत्येक जीव-हृदय में निवास करता है।

पौराणिक आख्यान है कि एक बार कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी ने विचार किया कि मेरा उद्‌गम क्या है? जहाँ से वे पैदा हुए थे, उस कमल-नाल में प्रवेश करते चले गये। अनवरत चलते रहे; किन्तु अपना उद्‌गम न देख सके। तब हताश होकर वे उसी कमल के आसन पर बैठ गये। चित्त का निरोध करने में लग गये और ध्यान के द्वारा उन्होंने अपना मूल उद्‌गम पा लिया, परमतत्त्व का साक्षात्कार किया, स्तुति की। परमस्वरूप से ही आदेश मिला कि - मैं हूँ तो सर्वत्र; किन्तु मेरी प्राप्ति का स्थान मात्र हृदय है। हृदय-देश में जो ध्यान करता है, वह मुझे प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मा एक प्रतीक है। योग-साधना की एक परिपक्व अवस्था में इस स्थिति की जागृति है। ईश्वर की ओर उन्मुख ब्रह्मविद्या से संयुक्त बुद्धि ही ब्रह्मा है। कमल पानी में रहते हुए भी निर्मल और निर्लेप रहता है। बुद्धि जब तक इधर-उधर ढूँढ़ती है, तब तक नहीं पाती और जब वही बुद्धि निर्मलता के आसन पर आसीन होकर मनसहित इन्द्रियों को समेटकर हृदयदेश में निरोध कर लेती है, उस निरोध के भी विलीनीकरण की अवस्था में अपने ही हृदय में परमात्मा को पा लेती है।

यहाँ भी योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार संसार वृक्ष है, जिसका मूल सर्वत्र है और शाखाएँ सर्वत्र हैं। **'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'**- कर्मों के अनुसार केवल मनुष्य योनि में बन्धन तैयार करता है, बाँधता है। अन्य योनियाँ तो इन्हीं कर्मों के अनुसार भोग भोगती हैं। अतः दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा इस संसाररूपी पीपल के वृक्ष को तू काट और उस परमपद को ढूँढ़, जिसमें गये हुए महर्षि पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते।

कैसे जाना जाय कि संसार वृक्ष कट गया? योगेश्वर कहते हैं कि जो मान और मोह से सर्वथा रहित है, जिसने संगदोष जीत लिया है, जिसकी कामनाएँ निवृत्त हो गई हैं और जो द्वन्द्व से मुक्त है, वह पुरुष उस परमतत्त्व को प्राप्त होता है। उस परमपद को न सूर्य, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर पाती है, वह स्वयं प्रकाशरूप है। जिसमें गये हुए पीछे लौटकर नहीं आते, वह मेरा परमधाम है, जिसे पाने का अधिकार सबको है, क्योंकि वह जीवात्मा मेरा ही शुद्ध अंश है।

शरीर का त्याग करते समय जीवात्मा मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के

कार्य-कलापों को लेकर नये शरीर को धारण करता है। संस्कार सात्त्विक हैं तो सात्त्विक स्तर पर पहुँच जाता है, राजसी हैं तो मध्यम स्थान पर और तामसी रहने पर जघन्य योनियों तक पहुँच जाता है तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता मन के माध्यम से विषयों को देखता और भोगता है। यह दिखाई नहीं पड़ता, इसके देखने की दृष्टि ज्ञान है। कुछ याद कर लेने का नाम ज्ञान नहीं है। योगीजन हृदय में चित्त को समेटकर प्रयत्न करते हुए ही उसे देख पाते हैं, अतः ज्ञान साधनगम्य है। हाँ, अध्ययन से उसके प्रति रुझान उत्पन्न होती है। संशययुक्त, अकृतात्मा लोग प्रयत्न करते हुए भी उसे नहीं पाते।

यहाँ प्राप्तिवाले स्थान का चित्रण है। अतः उस अवस्था की विभूतियों का प्रवाह स्वाभाविक है। उन पर प्रकाश डालते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा में मैं ही प्रकाश हूँ, अग्नि में मैं ही तेज हूँ। मैं ही प्रचण्ड अग्निरूप से चार विधियों से परिपक्व होनेवाले अन्न को पचाता हूँ। श्रीकृष्ण के शब्दों में अन्न एकमात्र ब्रह्म है- **'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।' (तैत्तिरीय उपनिषद्, ३/१),** जिसे प्राप्त कर यह आत्मा तृप्त हो जाती है। बैखरी से परापर्यन्त अन्न पूर्ण परिपक्व होकर पच जाता है, वह पात्र भी खो जाता है। इस अन्न को मैं ही पचाता हूँ अर्थात् सद्गुरु जब तक रथी न हों, तब तक यह उपलब्धि नहीं होती।

इस पर बल देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तर्देश में स्थित होकर मैं ही स्मृति दिलाता हूँ। जो स्वरूप विस्मृत था उसकी स्मृति दिलाता हूँ। स्मृति के साथ मिलनेवाला ज्ञान भी मैं ही हूँ। उसमें आनेवाली बाधाओं का निदान भी मुझसे होता है। मैं ही जानने योग्य हूँ और विदित हो जाने के बाद जानकारी का अन्तकर्त्ता भी मैं ही हूँ। कौन किसे जाने? मैं वेदवित हूँ। अध्याय के प्रारम्भ में कहा था, जो संसार-वृक्ष को मूलसहित जानता है वह वेदवित है; किन्तु उसको काटनेवाला ही जानता है। यहाँ कहते हैं - मैं भी वेदवित हूँ। उन वेदविदों में अपनी भी गणना करते हैं। अतः श्रीकृष्ण भी यहाँ वेदवित पुरुषोत्तम हैं, जिसे पाने का अधिकार मानवमात्र को है।

अन्त में उन्होंने बताया कि लोक में दो प्रकार के पुरुष हैं। भूतादिकों के सम्पूर्ण शरीर क्षर हैं। मन की कूटस्थ अवस्था में यही पुरुष अक्षर है; किन्तु है द्वन्द्वात्मक और इससे भी परे जो परमात्मा, परमेश्वर, अव्यक्त और

अविनाशी कहा जाता है, वह वस्तुतः अन्य ही है। यह क्षर-अक्षर से परे वाली अवस्था है, यही परमस्थिति है। इससे संगत करते हुए कहते हैं कि मैं भी क्षर-अक्षर से परे वही हूँ, इसलिए लोग मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं। इस प्रकार उत्तम पुरुष को जो जानते हैं वे ज्ञानी भक्तजन सदैव, सब ओर से मुझे ही भजते हैं। उनकी जानकारी में अन्तर नहीं है। अर्जुन! यह अत्यन्त गोपनीय रहस्य मैंने तेरे प्रति कहा। प्राप्तिवाले महापुरुष सबके सामने नहीं कहते; किन्तु अधिकारी से दुराव भी नहीं रखते। दुराव करेंगे तो वह पायेगा कैसे?

इस अध्याय में आत्मा की तीन स्थितियों का चित्रण क्षर, अक्षर और भी अति उत्तम पुरुष के रूप में स्पष्ट किया गया, जैसा इससे पहले किसी अन्य अध्याय में नहीं है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'पुरुषोत्तमयोगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'पुरुषोत्तम योग' नामक पन्द्रहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'पुरुषोत्तमयोगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।